श्री कुलार्णव तन्त्र

(प्रथम तथा नववां उल्लास)

हिन्दी टीका सहित

प्रकाशक
ईश्वर आश्रम ट्रस्ट
श्रीनगर-जम्मू-देहली-मुम्बई

श्री कुलार्णव तन्त्र

(प्रथम तथा नववां उल्लास)

हिन्दी टीका सहित

प्रकाशक

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट

श्रीनगर-जम्मू-देहली-मुम्बई

No. ISBN 81-88/94-02-6

मूल्य : २० रुपये

पहला संस्करण : २२-४-२००९
(जन्म जयन्ति दिवस)

(जय गुरुदेव)

दो शब्द

आगम शास्त्रा में वर्णित बानवें तन्त्रों में से 'कुलार्णव' तन्त्रा अपना विशेष महत्व रखता है। महादेव के संवित्-सरोवर से उभरे हुए ये अमृत-तुल्य जल-बिन्दु न केवल भगवति शैलजा की प्रश्न-पिपासा को ही शान्त करते हैं अपितु सभी मुमुक्षुओं के प्रश्न भी इस तन्त्रा को पढ़ने से स्वत: सुलझ जाते हैं। कशमीर के त्रिक मतानुयायि गुरु-जन अपने सत्-शिष्यों को इस ग्रन्थ का पहिला और नववां उल्लास पढ़ाया करते थे। स्वनामधन्य हमारे परमेष्ठि गुरु श्रीमान् राम जी ने भी अपने मुख्य शिष्यों को यही दो उल्लास पढ़ाये थे।

गुरु-जनों की परिपाटी के अनुसार प्रात: स्मरणीय गुरुवर्य श्री ईश्वर-स्वरूप जी महाराज ने भी अपनी प्रधान शिष्या देवी शारिका जी को तथा मुझे भी कई वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ का पहिला तथा नववां उल्लास कशमीरी भाषा में पढ़ाया था। मैं ने उन्हीं दिनों इन दोनों उल्लासों का अर्थ सरल हिन्दी भाषा में किया और गुरुदेव को दिखाया। वे इसे देख कर अति प्रसन्न हुए और कहा-तुम इसे सुरक्षित रखो। भविष्य में कभी काम आयेगा।

इस के कई वर्ष बाद राम-त्रिक-आश्रम वालों ने इन दो समुल्लासों का हिन्दी में अनुवाद करके छपवा दिया। उनका यह कार्य अति प्रशंसनीय रहा। कई नर-नारियां भक्ति-पूर्वक इन श्लोकों को पढ़ा करते थे। हमारे गुरु-देव भी यदा-कदा रामाश्रम के इस प्रयास की प्रशंसा करते थे।

संयोगवश एक दिन श्री ईश्वर-स्वरूप जी ने इस पुस्तिका को बड़े ध्यान से देखा तो इस में मूल कुलार्णव तन्त्रा में वर्णित श्लोकों से भिन्न पाठ-भेद देखे। महाराज जी ने उसी पुस्तिका पर ही कांट-छांट कर दी। अर्थ में भी अन्तर देख कर उन्हें शुद्ध कर दिया। वह पुस्तक उसी रूप में मेरे पास अभी भी है।

ई० सन् २००७ में मेरे पास रखी हुई इस पुस्तिका को ईश्वर- आश्रम-ट्रस्ट के एक कार्य-कर्त्ता ने देखा। वह मुझ से कहने लगे कि यदि ट्रस्ट इस पुस्तिका को शुद्ध रूप देकर तथा सही अर्थ से सुसज्तित बना कर पुनः मुद्रित करेगी तो आप को इस में संकोच ही क्या है ? मैंने सहर्ष छपवाने की हामी दे दी। परोपकार समझ कर तथा जनता महोदय के लाभ के लिए मैंने उनकी सम्मति को स्वीकार किया। ट्रस्ट के सचिव ने मुझे इस पुस्तिका का प्राक्कथन लिखने के लिए प्रार्थना की। अतः अब यह सार-गर्मित पुस्तिका ईश्वर-आश्रम-ट्रस्ट की संरक्षिता में छप रही है। त्रिक-मतानुयायि इसे पढ़ कर यदि लाभान्वित होंगे तो मेरी आत्मा भी हर्षित होगी। पुस्तक छपवाने के लिए ट्रस्ट को साधुवाद देते हुए

गुरु-चरणों में लीन

प्रभा देवी

२४-१-२००९

पंचकूला (हरियाणा)

अथ

श्री कुलार्णव तन्त्रा

(प्रथम उल्लास:)

अजस्रमदुनि:स्यन्दलहरीलालितालये

कवलीकृतविन्नाय पुराणकरिणे नम: ।।१।।

(मैं) निरन्तर बहते हुए शहद की लहरों से सुशोभित बने भ्रमरों वाले, तथा सभी विघ्नों का नाश करने वाले, अनादिकाल से सिद्ध श्री गणपति को नमस्कार करता हूँ।।१।।

गुरुं गणपतिं दुर्गां वटुकं शिवमच्युतम्।

ब्रह्माणं गिरिजां लक्ष्मीं वाणीं वन्दे विभूतये।।२।।

मैं गुरुदेव, गणपति, पराशक्ति दुर्गा, वटुक भैरव, अविनाशी शिव, ब्रह्मा जी, पार्वती, लक्ष्मी तथा सरस्वती की अपनी वाणी का ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए शरण लेता हूँ।।२।।

अनाद्यायाखिलाद्याय मायिने गतमायिने।

अरूपाय सरूपाय शिवाय गुरवे नम:।।३।।

मैं शिवरूप गुरुदेव, जो आप अनादि होकर भी सब विश्व का आदि है, माया रूप होते हुए भी माया से परे है और निराकार (रूप रहित) होते हुए भी रूप सहित (जगत रूप) हैं, को प्रणाम करता हूँ ।।३।।

पराप्रसादमन्त्राय सच्चिदानन्दहेतवे

अग्नीषोमस्वरूपाय सात्विकाय नमो नम:।।४।।

परा (पूर्णाहन्ता) के प्रकट करने के अनुग्रह रूप महामन्त्र रूप (अहम्), सब के क़ारण सच्चिदानन्द रूप सूर्य, चन्द्रमा (प्राणापान स्वरूप), सत्तामय शिव को बार बार प्रणाम करता हूँ।।४।।

कैलासशिखरासीनं देवदेवं जगद्गुरुम।
पप्रच्छेशं परानन्दं पार्वती परमेश्वरम्।।१।।

1. कैलास पर्वत पर विराजमान देवों के देव जगद्गुरु आनन्द रूप परमेश्वर शंकर भगवान् से पार्वती जी पूछने लगी।

श्री देव्युवाच

भगवन् देवदेवेश पञ्चकृत्यविधायक।
सर्वज्ञ भक्तिसुलभ शरणागतवत्सल।।२।।

2. हे भगवन्! हे देवों के देव! हे पांच कृत्यों (सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह) के करने वाले! हे सर्वज्ञ! हे भक्ति से आसानी से प्राप्त होने वाले! हे शरणागतो के प्यारे।

कुलेश परमेशान करुणामृतवारिधे।
असारे घोर संसारे सर्वदुःखमलीमसे।।३।।
नानाविधशरीरस्थाश्चानन्ता जीवराशयः।
जायन्ते च म्रियन्ते च तेषामन्तो न विद्यते।।४।। (युग्लकम्)

3.–4. हे जगदीश! हे परमेश्वर! हे दया-सागर! इस असार (सार-रहित), समस्त दुःखों से पूर्ण, संसार में अनेक शरीरों में ठहरे हुए, अनन्त जीव, जन्म भी लेते हैं और मरते भी हैं, (इस भांति) उन्हें इस जन्म-मरण रूपी चक्र से छुटकारा नहीं मिलता।।

सदा दुःखातुरा एव न सुखी विद्यते क्वचित्।
केनोपायेन देवेश ! मुच्यन्ते वद मे प्रभो।।५।।

5. ये प्राणी सदा दुःखों से आर्त्त (दुःखी) बने हैं। किसी भी अवस्था में सुखी नहीं रहते। अतः हे देव ! हे स्वामी ! मुझे कृपया बताइये कि किस उपाय से वह इस दुख से छूट सकते हैं।

श्री ईश्वर उवाच

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रोण संसारान्मुच्यते नरः।।६।।

मोक्ष लक्ष्मी संपन्न ईश्वर कहते हैं:-

6. हे देवि ! तुम सुनो, मैं कहता हूँ, जो तुम मुझे पूछती हो। उस के सुनने से ही प्राणि-जन संसार से मुक्त हो सकता है। (मनन और निधिध्यासन का तो कहना ही क्या?)

अस्ति देवि परब्रह्मस्वरूपो निष्कलः शिवः।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वेशो निर्मलोऽव्ययः।।७।।

7. हे देवि ! शिव, पर-ब्रह्म स्वरूप कलना अर्थात् साकार से रहित और कल्याण रूप हैं। उस का स्वरूप सर्वज्ञ तथा सर्वकर्त्ता है। वह सब का स्वामी निर्मल और अद्वैत-स्वरूप है।

स्वयं ज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात्परः।
निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंशा जीवसंज्ञकाः।।८।।

8. वह स्व-प्रकाश-स्वरूप, आदि-अन्त-रहित, विकार-रहित और बड़े से बड़ा है। वह प्रभु निर्गुण, सत्त-चित्त-आनन्द स्वरूप है। उसी के अंश (हिस्से) यह सभी जीव हैं।

अनाद्यविद्योपहता यथाग्नौ विस्फुलिङ्गकाः
देवाद्युपाधिसंभिन्नाः ते कर्मभिरनादिभिः।।९।।

9. जैसे अग्नि में चिंगारियां होती हैं उसी तरह वे जीव अनादि माया से अभिभूत (दब कर) हो कर अनादि काल के कर्मों से देव, मनुष्य आदि उपाधियों से भिन्न-भिन्न बने हुए हैं।

सर्वदुःखप्रदैःस्वीयैर्पुण्यपापैर्नियन्त्रिताः।
तत्तज्जातियुतं देहमायुर्भोगं च कर्मजम्।।१०।।
प्रतिजन्म प्रपद्यन्ते तेषामन्तो न विद्यते।
सुसूक्ष्मं लिंगदेहं तदामोक्षादक्षयं प्रिये।।११।। (युग्लकं)

10.-11. वह जीव, सुख तथा दुःख को देने वाले पुण्य और पापों से बंधे हुए हैं और उस जाति का शरीर, आयु तथा भोग उन्हें अपने कर्मों से प्राप्त होता है। इस भांति हर योनि में वे जन्म लेते हैं ओर मरते हैं। इस जन्म-मरण का उन्हें अन्त नहीं होता। अतः हे देवि! अति सूक्ष्म पुर्यष्टक शरीर मोक्ष प्राप्ति तक उन को बना ही रहता है।

स्थावरा क्रिमयश्चाब्जाः पक्षिणः पशवो नराः ।
धार्मिकास्त्रिदशास्तद्वन्मोक्षिणश्च यथाक्रमम् । ।१२ । ।

12. वे जीव कभी स्थावर (वृक्षादि), कभी कीड़े और कभी जल के जीव अर्थात् मछली आदि बनते हैं। वे कभी तो धर्मात्मा और कभी देवता बनते हैं और कभी क्रमानुसार मुक्त हो जाते हैं।

चतुर्विधशरीराणि धृत्वा धृत्वा सहस्रशः ।
सुकृतान्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् । ।१३ । ।

13. वे जीव चार प्रकार के (अण्डे से उत्पन्न अंडज, पसीने से उत्पन्न स्वेदज, गर्भ से उत्पन्न जरायुज और जल से उत्पन्न उद्भिज) शरीरों को हजार बार धारण करते हैं और यदि कभी पुण्यों के प्रभाव से वे मनुष्य योनि को प्राप्त करें और ज्ञानी बनें तो मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

चतुराशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम् ।
न मानुष्यं विनान्यत्रा तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते । ।१४ । ।

14. चुरासी लाख योनियो मे प्राणि, मनुष्य देह को छोड़ कर किसी भी देह में तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

अत्राजन्मसहश्रेषु सहस्त्रैरपि पार्वति।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्।।१५।।

15. इन चुरासी लाख योनियों में हज़ार बार आने और जाने पर कभी किसी समय पुण्यों के फल के कारण जीव मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है।

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्यदुर्लभम्।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात्पापतरोऽत्र कः।।१६।।

16. मोक्ष-धाम के लिए सीडी बने हुए इस दुर्लभ मनुष जन्म को प्राप्त करके जो अपना उद्धार नहीं करता है उस से बढ़ कर महान् पापी कौन हो सकता है।

ततश्चाप्युत्तमं जन्म लब्ध्वा चेन्द्रियसौष्ठवम्।
न वेत्त्यात्महितं यस्तु स भवेदात्मघातकः।।१७।।

17. इस लिए वह उत्तम मनुष्य-जन्म प्राप्त करके तथा इस में भी इन्द्रियों की स्वस्थता पा कर जो मनुष्य अपना कल्याण नहीं करता है उसी को ब्रह्म घातक अर्थात् महा पापी कहते हैं।

विना देहेन कस्यापि पुरुषार्थो न विद्यते।
तस्माद्देहधनं प्राप्य पुण्यकर्माणि साधयेत्।।१८।।

18. इस मनुष्य-देह के बिना किसी भी दूसरी योनि में मोक्ष-साधन का पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हाते। इस लिए इस

मनुष्य देह रूपी धन को प्राप्त करके पुण्य कर्मों को करना चाहिये।

रक्षयेत्सर्वदात्मानमात्मा सर्वस्य भाजनम्।
रक्षणे यत्नमातिष्ठेज्जीवं भद्राणि पश्यति।।१९।।

19. सदा अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिये क्योंकि यही मनुष्य-शरीर सब कुछ प्राप्त करा सकता है। अतः इस की रक्षा के लिए यत्न-तत्पर होना चाहिये, तभी जीव को परम कल्याण की प्राप्ति होती है।

पुनर्ग्रामाः पुनःक्षेत्रां पुनर्वित्तं पुनर्गृहम्।
पुनः शुभाशुभं कर्म न शरीरं पुनःपुनः।।२०।।

20. ग्राम, क्षेत्र (ज़मीन), धन, संपत्ति और घर तथा पाप और पुन्य कर्म ये सभी (मरने के पश्चात्) फिर प्राप्त हो सकते हैं परन्तु यह मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिल सकता।

शरीररक्षणोपायः कर्त्तव्यः सर्वदा बुधैः।
नहीच्छन्ति तनुत्यागमपि कुष्ठादिरोगिनः।।२१।।

21. अतः ज्ञानियों को सदा शरीर की रक्षा का उपाय करना चाहिये (क्योंकि) कुष्ठ (कोड के रोगी) आदि रोगी भी अपने शरीर को छोड़ना नहीं चाहते।

तद्गोपितं स्याद्धर्मार्थं धर्मं ज्ञानार्थमेव च।
ज्ञानंतु ध्यानयोगार्थं सोऽचिरात् परिमुच्यते।।२२।।

22. वह (मनुष्य) शरीर, धर्म करने के लिए सुरक्षित रक्खा हो, धर्म ज्ञान-प्राप्ति के लिए ठहराया हो और ज्ञान का सेवन ध्यान-योग के लिए किया हो, तो ऐसा करने वाला शीघ्र ही मुक्त होता है।

आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत्।
कोऽन्यो हितकरस्तस्मादात्मानं तारयिष्यति।।२३।।

23. यदि मनुष्य स्वयं ही अपनी आत्मा को बुरे कर्मों से नहीं हटायेगा तो भला दूसरा कौन हितकारी इस की आत्मा का उद्धार करेगा। भाव यह है कि पुरुषार्थ करके अपनी आत्मा को स्वयं मुक्त करना चाहिये।

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं व्याधिस्थः किं करिष्यति।।२४।।

24. जो (मनुष्य) इस जन्म में नरक आदि बीमारियों का इलाज नहीं करता है वह औषधि-रहित (यम-सदन) देश में पहुँच कर वहाँ नरक आदि व्याधियों में ठहरा हुआ क्या कर सकता है।

यावत्तिष्ठति देहोऽयं तावत्तत्त्वं समभ्यसेत्।
सन्दीप्ते भुवने को नु कूपं खनति दुर्मतिः।।२५।।

25. जब तक ही यह शरीर स्वस्थ रहे तब ही तक अपने स्वरूप का अभ्यास करना चाहिये नहीं तो मकान के आग लगने पर कौन मूर्ख पुरुष कुआँ खोदने लगेगा।

नोट : (अन्तिम समय पर ज्ञान प्राप्ति के लिये यत्न लाभदायक नहीं होता)

व्याघ्रीवास्ते जरा चायुर्याति भिन्नघटाम्बुवत्।
निघ्नन्ति रिपुवद्रोगास्तस्माच्छ्रेयः समभ्यसेत्।।२६।।

26. बुढ़ापा, मनुष्य की आयु को शेरनी की तरह अथवा जल में कच्चे मिट्टी के बरतन की तरह, नष्ट करता है। इस के अतिरिक्त रोग भी शत्रुओं की तरह सामना करते हैं। अतः अपना कल्याण (स्वयं) करना चाहिये।

यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः।
यावन्नेन्द्रियवैकल्यं तावच्छ्रेयः समाचरेत्।।२७।।

27. जब तक मनुष्य को दुःख न पकड़े अर्थात् जब तक कोई दुःख न मिला हो। जब तक उसे आपदायें न आयें तथा जब तक मनुष्य की इन्द्रियाँ शिथिल न हों तब तक ही आपको कल्याण-मार्ग का सेवन करना चाहिये।

कालो न ज्ञायते नानाकार्यैः संसारसंभवैः।
सुखदुःखैर्जनो हन्ति न वेत्ति हितमात्मनः।।२८।।

28. हमारे जीवन के सांसारिक कार्यों की प्रतीक्षा महाकाल नहीं करता है। सुख तथा दुःख में लगा हुआ मनुष्य अपने हित को नहीं समझता है।

जातानार्त्तान्मृतानापद्ग्रस्तान्दृष्ट्वातिदुःखितान्।
लोको मोहसुरां पीत्वा न बिभेति कदाचन।।२९।।

29. जन्म लेते हुए प्राणियों को, आर्त्त बने हुए जीवों को, आपदाओं से घिरे हुए जनों को तथा दुःखी बने हुए प्राणियों को देख कर भी मनुष्य मोह (गफलत) की मदिरा पीकर कभी भी नहीं डरता।

संपदः स्वप्नसंकाशा यौवनं कुसुमोपमम्।
तडिच्चपलमायुष्यं कस्य स्याज्जानतो धृतिः।।३०।।

30. संपदायें स्वपनों के समान हैं, जवानी फूलों की तरह अस्थिर है, तथा आयु बिजली की चमक की भांति चंचल है। इस प्रकार जानते हुए किस पुरुष को इस (जीवन) में आस्था (विश्वास) बनी रहेगी।

शतं जीवितमत्यल्पं निद्रालस्यं तदर्धकम् ।
बाल्यरोग जरादुःखैरर्धं तदपि निष्फलम् ।।३१।।

31. सौ वर्ष की आयु (मनुष्य की) बहुत ही कम है। उस में से भी आधा समय निद्रा और आलस्य में बीतता है। शेष आधा भी बचपन, रोग, बुढ़ापा तथा दुःख में ही व्यतीत होता है। शेष बचा हुआ आयु का चौथा भाग भी मनुष्य निष्फल ही करता है।

प्रारब्धव्ये निरुद्योगो जागर्तव्ये सुषुप्तकः।
विश्वस्तव्ये भयस्थानो हानरः को न हन्यते।।३२।।

32. मनुष्य को जहां अर्थात् जिस लिए उद्योग करना चाहिये था वहाँ आलस्य करता है, जहां जाग्रत रहना चाहिये था वहां सो जाता है और जिस में विश्वास करना चाहिये था वहां भय धारण करता है। (अतः प्रत्यक्ष ही है) एसा पुरुष क्यों न मारा जायेगा।

तोयफेनसमे देहे जीवेनाक्रम्य संस्थिते।
अनित्येऽप्रियसंवासे कथं तिष्ठन्ति निर्भयाः।।३३।।

33. जल के झाग की भांति इस देह को जीव ने ग्रहण किया है। यह अनित्य देह रहने में बहुत ही अप्रिय है। एसे अप्रिय देह में निर्भयतापूर्वक ये जीव कैसे ठहरे हैं। यह तो आश्चर्य है।

अहिते हितबुद्धिः स्याद ध्रुवे ध्रुवचिन्तकः।
अनर्थे चार्थविज्ञानी स्वमर्थयोनवेत्तिसः।।३४।।

34. इस अहित अर्थात् कष्टदायक शरीर में ही हित की बुद्धि रखता है। अस्थिर पदार्थ में स्थिर बुद्धि रखता है और अनर्थ में अर्थ समझता है। क्योंकि वह अपने कल्याण को नहीं समझ पाता है।

पश्यन्नपि न पश्येत् स शृण्वन्नपि न बुध्यति।
पठन्नपि न जानाति तव मायाविमोहितः।।३५।।

35. हे देव! तुम्हारी माया से विमोहित बना हुआ वह मनुष्य देख कर भी नहीं देखता है, सुन कर भी नहीं समझता है और पढ़ कर भी नहीं जान सकता है।

सन्निमज्जज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे।
मृत्युरोगजराग्राहे न कश्चिदपि बुध्यति।।३६।।

36. यह सारा जगत् अथाह महा काल रूपी सागर में डूब गया है, जिस सागर में मृत्यु, बुढ़ापा और रोग रूपी बड़े मगरमच्छ विद्यमान् हैं। इतना होने पर भी कोई जाग्रत नहीं होता।

प्रतिक्षणमयं काला क्षीयमाणो न लक्ष्यते।
आमकुम्भ इवाम्भस्थी विशीर्णो न विभाव्यते।।३७।।

37. प्रति क्षण ही यह समय चला जाता है और इस काल का कुछ भी पता नहीं लगता जैसे कच्चा, मिट्टी का घड़ा

जल में ठहरा हुआ विशीर्ण अर्थात् समाप्त होते हुए दिखाई ही नहीं देता।

युज्यते वेष्ठनं वायोराकाशस्यापि खण्डनम्।
ग्रथनञ्च तरङ्गानामास्थानायुषि युज्यते।।३८।।

38. वायु को बन्द करना संभव है, आकाश के भी टुकड़े टुकड़े किये जा सकते हैं तथा तरंगों को भी एक ही स्थान में बन्द करना संभव है पर मनुष्य की आयु पर विश्वास रखना उचित नहीं।

पृथिवी दह्यते येन मेरूश्चापि विशीर्यते।
शुष्यते सागरजलं शरीरे देवि का कथा।।३९।।

39. हे देवी! जिस महाप्रलय के आने पर सम्पूर्ण पृथिवी जल जाती है, यह महान् सुमेरु पर्वत भी गिर जाता है और सागर का जल सूख जाता है ऐसे समय शरीर के स्थिर रहने की कैसे संभावना हो सकती है।

अपत्यं मे कलत्रां मे धनं मे बान्धवाश्चमे।
लम्पन्तमिति मर्त्यं हि हन्ति कालवृकोदरः।।४०।।

40. यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धन है और यह मेरे बान्धव हैं, इस प्रकार 'मेरा मेरा' कहते हुए मनुष्य रूपी बकरे को काल रूपी बेढिया मार डालता है।

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरत्ति नरं प्रिये ।।४१।।

41. हे देवि ! यह काम मैं कर चुका, यह अभी करना है और यह काम कुछ बाकी है-इस प्रकार की चेष्टाओं से युक्त बने हुए मनुष्य को महाकाल खा जाता है।

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य नवाकृतम् ।।४२।।

42. कल का काम आज करना चाहिये और परसों का काम कल करना चाहिये क्योंकि महाकाल किसी की भी प्रतीक्षा इसलिय नहीं करता कि क्या इस ने अपना सभी कार्य समाप्त किया है या नहीं।

जरादर्शितपन्थानं प्रचण्डव्याधिसैनिकम् ।
मृत्युशत्रुमधिष्ठोऽसि त्रातारं किंन पश्यति ।।४३।।

43. बुढ़ापे से दिखाये गये मार्ग वाले, भयंकर व्याधि रूपी सेना वाले, महाकाल रूपी शत्रु ने तुम्हें चारों ओर से घेर लिया है। तुम अपने रक्षक प्रभु की शरण क्यों नहीं जाते।

तृष्णासूचीविनिर्भिन्नं सिक्तं विषयसर्पिषा ।
रागद्वेषानले पक्वं मृत्युरश्नाति मानवम् ।।४४।।

44. तृष्णा रूपी सूई से छेदित कियें गये, विषय रूपी घी में तले हुए और राग-द्वेष रूपी अग्नि में पकाये गये मनुष्य को, अन्त में महाकाल खा जाता है।

बालांश्च यौवनस्थांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि।
सर्वानाविशते मृत्युरेवंभूतमिदं जगत्।।४५।।

45. बालकों को, जवानों को, बूडों को तथा गर्भ में ठहरे हुए बच्चों को मृत्यु पकड़ता है। इसी प्रकार (नाश होने के लिए) यह जगत् बना हुआ है।

ब्रह्मविष्णुमहेशादि देवता भूतजातय:।
नाशमेवानुधावन्ति तस्माच्छ्रेय: समाचरेत।।४६।।

46. ब्रह्मा, विष्णु, शंकर आदि देवता तथा सभी प्राणि अन्त में नाश को ही प्राप्त होते हैं अत: अपनी मुक्ति के लिए यत्न करना चाहिये।

स्वस्ववर्णाश्रमाचार लङ्घनाद्दुष्प्रतिग्रहात्।
परस्त्रीधनलोभाच्च नृणामायु:क्षयो भवेत्।।४७।।

47. अपने अपने वर्ण, आश्रम धर्म को छोड़ने से और बुरे कर्म करने से हठ पूर्वक तथा पर-स्त्री और दूसरे के धन का लोभ करने से मनुष्यों की आयु कम हो जाती है।

वेदशास्त्राद्यानभ्यासात्तथैव गुरुवञ्चनात्।
नृणामायु: क्षयो भूयादिन्द्रियाणामनिग्रहात्।।४८।।

48. वेद शास्त्रों को न पढ़ते हुए अपने गुरुदेव को धोखा देते हुए तथा अपनी इन्द्रियों को वश न करते हुए मनुष्यों की आयु व्यर्थ ही बीत जाती है।

व्याधिराधिर्विषं शस्त्रां ना सर्पः पशवो मृगाः।
निर्वाणं येन निर्दिष्ठं तेन गच्छन्ति जन्तवः।।४९।।

49. रोग, मन,-सन्ताप, विष, शास्त्र, मनुष्य, सांप, पशु, सिंह आदि जिस किसी भी प्राणि से विधाता ने मौत लिखी हो उसी के द्वारा मारे जाने पर यह प्राणी यम के घर में पहुँचते हैं।

जीवस्तृणजलौकेव देहाद्देहान्तरं व्रजेत्।
संप्राप्य परमंशेन देहं त्यजति पूर्वकम्।।५०।।

50. यहाँ जीव तृण-जन्तु (घास के कीड़े) की तरह एक देह को छोड़ कर दूसरी देह में चला जाता है अर्थात् जैसे घास का कीड़ा अगले पत्ते का सहारा ले कर फिर पिछले पत्ते को छोड़ता है उसी भांति जीव भी पिछले शरीर को तब छोड़ता है जब अगले का सहारा उसे हो जाता है।

बाल्ययौवनवृद्धत्वं यथा देहान्तरादिकम्।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्गृहाद्ग्रहमिवागतः।।५१।।

51. जैसे बच्चपन, जवानी और बुढ़ापा भिन्न-भिन्न देह माने गये हैं उसी तरह जीव और और देहों को प्राप्त होता है मानों एक घर से निकल कर दूसरे घर में चला गया हो।

जनाः कृत्वेह कर्माणि सुखदुःखानि भुञ्जते।
परत्रज्ञानिनो देवि ! यान्त्यायांति पुनः पुनः।।५२।।

52. हे देवि ! यह मनुष्य इस लोक में कर्म करके उनके फल रूप सुखों और दुःखों को परलोक में भोगते हैं। इस रीति से वे अज्ञानी जन बार-बार इस संसार में आते हैं और जाते हैं।

इह यत्क्रियते कर्म तत्परत्रोपभुञ्जते।
सिक्तमूलस्य वृक्षस्य फलं शाखासु दृश्यते।।५३।।

53. इस लोक में मनुष्य जो कर्म करता है उस का फल वह परलोक में भोगता है जैसे वृक्ष के मूल में पानी से सिंचन किया हो तो उस का फल वृक्ष की शाखाओं में देखा जाता है।

दारिद्रय्दुःखरोगाश्च बन्धनं व्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षस्थ फलात्येतानिदेहिनाम।।५४।।

54. दरिद्रता, दुःख, रोग, बन्धन तथा संसारी व्यसन, ये तो अपने अपराध रूपी वृक्ष के अनेक फल हैं जो कि देह-धारियों को मिलते हैं।

निसङ्ग एव मोक्षः स्याद्दोषाः सर्वेऽपि संगजाः।
सङ्गाच्च चलते ज्ञानी चावश्यं किमुताल्पवित्।।५५।।

55. असंग (किसी से प्रेम न करना) होना ही मोक्ष कहलाता है। सभी दोष तो संग से ही उत्पन्न होते हैं। संग से ज्ञानी भी चलायमान होता है। अतः अल्पबुद्धि वाले का क्या कहना ही है।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्।।५६।।

56. प्रथम सम्पूर्ण रूप से संग छोड़ना चाहिये। किंतु यदि वैसा न हो सके तो फिर केवल सज्जनों का संग करना चाहिये। संतों का संग तो परम औषधि है।

सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम्।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः।।५७।।

57. जिस व्यक्ति के पास सत्संग और विवेक ये निर्मल दो नेत्रा नहीं होते हैं वह मनुष्य अन्धा है। ऐसा मनुष्य कुमार्गगामी (बुरे मार्ग पर चलने वाला) क्यों नहीं होगा।

यावतः कुरुते जन्तुः संबन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः।।५८।।

58. जब तक कि मनुष्य अपने मन को प्रिय लगने वाले विषयों के साथ संबन्ध करता है तब तक शोक रूपी गिद्ध इस के हृदय को विदीर्ण करते (काटते) रहते हैं।

स्वदेहमपि जीवोऽयं त्यक्त्वा याति कुलेश्वरि।
स्त्रीमातृपितृपुत्रादि सम्बन्धः केन हेतुना।।५९।।

59. हे कुलेश्वरी! अपने प्रिय शरीर को भी यह जीव छोड़ जाता है फिर भला इस जीव को अपनी स्त्री, माता, पिता तथा पुत्रों के साथ संबन्ध ही क्या है।

दुःखमूलो हि संसारः स यस्यास्ति स दुःखितः।
तस्य त्यागः कृतो येन स सुखी नापरः प्रिये।।६०।।

60. हे देवि ! यह संसार दुःखों का मूल है-अतः जिसे संसार है वही दुःखी है और जिस ने इस संसार को छोड़ दिया वही सुखी है, अन्य कोई सुखी नहीं।

प्रभवं सर्वदुःखानामाश्रयं सकलापदाम्।
आलयं सर्वपापानां संसारं वर्जयेत्प्रिये।।६१।।

61. हे देवी ! सभी दुःखों के उत्पन्न करने वाला, सभी आपदाओं का आश्रय तथा समस्त पापों का घर यह संसार छोड़ना चाहिये।

अबन्धबन्धनं घोरमस्वीकृत महाविषम्।
अशस्त्रखण्डनं देवि संसारासक्तचेतसाम्।।६२।।

62. हे देवी ! जिन व्यक्तियों का मन संसार में लगा हुआ है उन्हें बन्धनों के बिना घोर बन्धन हो जाता है। उन्हें मीठे स्वाद वाले भयंकर विष की प्राप्ति होती है और उन्हें शस्त्र के प्रहारों के बिना ही भयंकर छेदन होता है।

आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः।
तस्मात्सन्त्यज्य संसारं तत्त्वनिष्ठः सुखी भवेत्।।६३।।

63. जिस कारण से आदि, मध्य और अन्त में यह समस्त जगत् दुःख-स्वरूप ही है। अतः इस संसार को छोड़ कर स्वात्म-स्थिति प्राप्त कर के सुखी बनना चाहिये।

लोहदारुमयैः पाशैर्दृढं बद्धो विमुच्यते।
स्त्रीधनादिषु संसक्तो मुच्यते न कदाचन।।६४।।

64. लोहे तथा पीतल की जंजीरों से अच्छी तरह बंधा हुआ पुरुष भी समय आने पर उस से छूट सकता है पर स्त्री तथा धन आदि विषयों में आसक्त बना हुआ व्यक्ति कभी भी उन से नहीं छुटता।

कुटुम्बचिन्तासक्तस्य कुतः सत्त्वादयो गुणाः।
अपकं भुञ्जमानस्य नश्यन्त्यङ्गानि केवलम्।।६५।।

65. अपने कुटुम्ब की चिन्ता में लगे हुए पुरुष को सत्तोगुण-प्राप्ति की संभावना ही कहाँ हो सकती है। जैसे कच्चा अन्न खाने से अंग की पुष्टि बनने के प्रतिकूल सभी अंग ढीले पड़ जाते हैं।

वाञ्छिताशेषचिन्तस्थैर्नित्यं लोको विनाशितः।
हा हन्त विषयाहारैर्देहस्थेन्द्रियतस्करैः।।६६।।

66. बड़ा दुःख है कि जिन विषय-भोगों को यह संसारी जन सर्वभाव से मन में चाहते रहते हैं उन्हीं विषय-भागों से देह में स्थित इन्द्रिय रूपी चोरों के द्वारा यह जीव सदा के लिए लुटाया जाता है और मारा जाता है।

मांसलुब्धो यथा मीनो लौहशङ्कुं न पश्यति।
सुखलुब्धस्तथा देही यमबाधां न पश्यति।।६७।।

67. जैसे मांस की चाहत रखने वाली मछली लोहे के कांटे की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं देती। उसी तरह सुख की इच्छा रखने वाला जीव विषय भोगते भोगते यमराज की पीड़ा को (मृत्यु के समय को) भूल जाता है।

हिताहितं न जानन्ति नित्यमुन्मार्गगामिनः।
कुक्षिपूरणनिष्ठा ये तेऽबुधा नारकाः प्रिये।।६८।।

68. हे प्रिय पार्वती! जो पुरुष हित और अहित की ओर ध्यान नहीं देते, जो सदा कुमार्गगामी होते है और जो केवल पेट भरने में ही लगे हैं वे मूर्ख अन्त में नरक में चले जाते हैं।

निद्रादिमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः।
ज्ञानवान्मानवः प्रोक्तो ज्ञानहीनः पशुः प्रिये।।६९।।

69. हे प्रिये! निद्रा, विषय-भोग और भोजन करना ये तीनों सभी प्राणियों में समान ही हैं, केवल इतना ही अन्तर है कि मनुष्य को इन तीन के अलावा ज्ञान भी होता है। अब जो मनुष्य ज्ञान से रहित हैं वे पशुओं के तुल्य ही हैं।

प्रभाते मलमूत्राभ्यां क्षुत्तृड्भ्यां मध्यगे रवौ।
रात्रौ मदननिद्राभ्यां बाध्यन्ते मानवाः प्रिये।।७०।।

70. हे देवि! प्रभात के समय मल मूत्र-त्याग की क्रिया से, दिन में भूख तथा प्यास की क्रिया करने से और रात्रि में निद्रा तथा भोग भोगने से मनुष्य (इसी व्यवहार में) बन्धे रहते हैं।

स्वदेहधनदारादिनिरताः सर्वजन्तवः ।
जायन्ते च म्रियन्ते च हा हन्ताज्ञानमोहिताः ।।७१।।

71. सभी प्राणी अपनी देह, धन और स्त्री आदि की प्राप्ति में ही लगे रहते हैं। ये पुरुष इस संसार में जन्म भी लेते हैं और मरते भी हैं। बड़ा खेद है कि ये जीव अज्ञान द्वारा ही मोहित बने हैं।

स्वस्ववर्णाश्रमाचारनिरताः सर्वजन्तवः ।
न जानन्ति परं तत्त्वं मूढा नश्यन्ति पार्वति ।।७२।।

72. हे पार्वती ! अपने अपने वर्णाश्रम धर्म के पालन करने में सभी प्राणी लगे हुए हैं किन्तु परमेश्वर के स्वरूप को नहीं समझ सकते हैं। एसे प्राणी व्यर्थ ही नष्ट हो जाते हैं।

क्रियायासपराः केचित् व्रतचर्यादिसंयुताः ।
अज्ञानसंवृतात्मानः सञ्चरन्ति प्रतारकाः ।।७३।।

73. इस संसार में कई जन तो महान् क्रियाओं के करने में तत्पर बड़े बड़े यज्ञों के करवाने के कार्य में लगे होते हैं। एसे पुरुष जहां स्वयं अज्ञान से दग्ध बने हुए हैं वहां दूसरे जनो को अपना गौरव दिखला कर ठगते हैं।

नाममात्रेण सन्तुष्टाः कर्मकाण्डरता नराः ।
मंत्रोच्चारणहोमाद्यैर्भ्रामिताः क्रतुविस्तरैः ।।७४।।

74. कई जन तो ऐसे हैं कि लोगों में विख्यात् होने पर ही अपने को कृतकार्य समझते हैं। ऐसे पुरुष तो कर्मकाण्ड़ में लगे हुए हवन आदि कर्मों में मन्त्र का उच्चारण करते हुए इन्हीं हवन आदि कार्यों में भ्रमित हुए हैं।

एक भुक्तोपवासाद्यैर्नियमैः कायशोषणैः।
मूढा परोक्षमिच्छन्ति तवमायाविमोहिताः।।७५।।

75. आप (ईश्वर) की माया से विमोहित बने हुए मूर्ख जब एक मात्र भक्त वन कर उपवास आदि, जो केवल शरीर को सुखाने वाले व्रत हैं, करके मोक्ष की इच्छा रखते हैं।

देहद्ण्डनमात्रेण का मुक्तिरविवेकिनाम्।
वल्मीकताडनाद्देवि मृतः किन्नु महोरगः।।७६।।

76. देह को कष्ट देने से ही अविवेकी मनुष्यों को कौन सी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। हे देवि! सर्प के बिल की उभरी हुई मिट्टी को पीटने से क्या अन्दर बिल में ठहरे हुए सांप की भी मृत्यु हो सकती है? कदापि नहीं।

धनाहारजिने युक्ता दाम्भिका वेशधारिणः
भ्रमन्ति ज्ञानिवल्लोके भ्रामयन्ति जनानपि।।७७।।

77. कई कपटी मनुष्य साधुओं के वेश को धारण करते हुए वास्तव में धन तथा आहार के कमाने में लगे हैं पर वे ज्ञानियों की तरह घूमते फिरते हैं और अपने पीछे औरों को भी भ्रमित करते हैं।

सांसारिकसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम्।
कर्मब्रह्मो भयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा।।७८।।

78. एक ओर तो सांसारिक सुखों में लगा है और दूसरी ओर कहता है कि मैं ब्रह्म ज्ञानी हूँ। ऐसा पुरुष तो ब्रह्म-मार्ग तथा कर्म-मार्ग, दोनो से गिरा हुआ है अतः चमार की भान्ति इसे त्यागना चाहिये।

गुहारण्यसमा लोके गतव्रीडा दिगम्बराः।
चरन्ति गर्दभाद्याश्च योगिनस्ते भविन्त किम्।।७९।।

79. कई जन तो वनों तथा कन्दराओं में निर्लज होकर वस्त्रों से रहित होकर फिरते हैं। ऐसे तो गद्दे भी फिरते रहते हैं। यदि यही लक्षण योगी का मानें तो क्या गद्दे भी योगी ही हैं।

मृदस्मग्रक्षणाद्देवि मुक्ताः स्युर्यदि मानवाः।
मृदस्मवासी नित्यंश्वा स किं मुक्तो भविष्यति।।८०।।

80. हे देवि ! यदि मनुष्य मिट्टी तथा राख को मलने से ही मुक्त हो जाते तो सदा मिट्टी और भस्म में ठहरा हुआ कुत्ता क्या मुक्त हो जायेगा।

तृणपर्णोदकाहारा: सततं वनवासिन: ।
हरिणादि मृगा देवि तापसास्ते भवन्ति किम् ।।८१।।

81. हे देवि ! कई लोग तो केवल घास, पत्ते तथा जल ही आहार करते हैं और सदा वनों में ही ठहरते हैं। यदि इसी क्रिया से वे तपस्वी माने जायें तो हिरन आदि पशु भी जंगलों में पत्ते ही खाते हैं ! क्या वे भी तपस्वी ही माने जायेंगे।

आजन्ममरणान्तञ्च गङ्गादितटिनीस्थिता: ।
मण्डूकमत्स्य प्रमुखा व्रतिनस्ते भवन्ति किम् ।।८२।।

82. कई तो जन्म से लेकर मृत्यु तक गंगा आदि तटों में ही निवास करते हैं। यदि यही व्रतेश्वर माने जायें तो फिर गंगा-तट-वासी मेंडक तथा मछलियाँ क्यों नहीं व्रत-धारी मानी जायें।

वदन्ति हृदयानन्दं पठन्ति शुकशारिका: ।
जनानां पुरतो देवि विबुधा: किं भवन्ति ते।।८३।।

83. कई जन तो लोगों की सभाओं में अनोखे ढंग से हृदय में स्थित स्वात्म-आनन्द का व्याख्यान करते रहते

हैं। इसी भांति तोता, मैना आदि भी बोलते रहते हैं। इस से क्या वे पक्षी भी ज्ञानी माने जायेंगे।

पारावताः शिलाहाराः परमेश्वरि! चातकाः।
न पिबन्ति महीतोयं योगिनस्ते भवन्ति किम्।।८४।।

84. हे परमेश्वरी! चातक पक्षी तो पर्वतों की चट्टानों का ही आहार करते हैं और कभी भी पृथ्वी का जल नहीं पीतें। क्या उन पक्षियों को भी योगी माना जा सकता है।

शीतवातातपसहा भक्ष्याभक्ष्य समाः प्रिये।
तिष्ठन्ति सूकराद्याश्च योगिनस्ते भवन्ति किम्।।८५।।

85. हे प्रिय पार्वती! कई जन तो शीत वायु तथा सूर्य की गरम किरणों को सहते हैं और रोटी मिले या न मिले वे प्रसन्नः रहते हैं, और इस प्रकार समभाव से रहते हैं। यदि यही योग का लक्षण है तो फिर सुअर भी इसी तरह सब कुछ सहते हैं तो क्या वे भी योगी माने जायेंगे।

तस्मादित्यादिकं कर्म लोकरञ्जनकारकम्।
मोक्षस्य कारणं साक्षात्तत्वज्ञानं कुलेश्वरि!।।८६।।

86. इस लिए ऐसे कर्म करने वाले, लोगों को ठगने के लिए ढोंग रचाते हैं। पर हे कुलेश्वरि! मोक्ष का एक मात्र उपाय केवल तत्त्वज्ञान है।

षड्दर्शनमहाकूपे पतिताः पशुवः प्रिये।
परमार्थं न जानन्ति पशुपाशनियन्त्रिताः।।८७।।

87. षड्दर्शन रूपी गहरे कुएँ में ये मूर्ख जीव गिरे हुए हैं। हे देवि ! ये पुरुष जीव-पाश में फंसे हुए परमार्थ की चर्चा को ज़रा भी नहीं जानते।

वेदशास्त्रर्णवे घोरे उह्यमाना इतस्ततः।
कालोर्मिग्राहग्रस्ताश्च तिष्ठन्ति हि कुतार्किकाः।।८८।।

88. अपने आप को ज्ञानी समझने वाले वे मूर्ख बड़े अथाह भयंकर वेद-शास्त्र रूपी समुद्र में गोते मारते रहते हैं और वे षड्शास्त्र रूपी मगरमच्छ द्वारा खाये गये सदा कुतर्क ही करते रहते हैं।

वेदागमपुराणज्ञः परमार्थं न वेत्ति यः।
विड़म्बकस्य तस्यापि तत्सर्वं काकभाषितम्।।८९।।

89. जो वेदों, तन्त्रों तथा पुराणों को जानता हुआ भी परमार्थ नहीं जानता है, उस ठग धूर्त का वह सारा पढ़ना पढ़ाना काक भाषण (कौए की बोली) के बराबर ही व्यर्थ (फजूल) है।

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति चिन्तासमाकुलाः।
पठन्त्यहर्निशं देवि परतत्त्वपराङ्मुखाः।।९०।।

90. हे देवि ! यह ज्ञान है और यह ज्ञेय (पदार्थ) है। इसी चिन्ता में वे लोग दिन रात लगे रहते हैं और पढ़ते रहते हैं। किन्तु इतना करने पर भी वे जन तत्त्वदृष्टि से तो परमेश्वर के स्वरूप से विमुख ही बने हैं।

वाक्यच्छन्दोनिबन्धेन काव्यालङ्कारशोभिताः।
चिन्तया दुःखिता मूढास्तिष्ठन्ति व्याकुलेन्द्रियः।।९१।।

91. वाक्य तथा छन्दों को बनाने से तथा काव्य और अलंकारों की रचना से वे जन शोभायमान बने हुए होकर भी मूर्ख बन कर सदा व्याकुल इन्द्रियों से युक्त इसी चिन्ता में दुःखी रहा करते हैं कि कैसे (हमारे) छन्द तथा काव्य निर्दोष बनें।

अन्यथा परमं तत्त्वं जनाः किल्श्यन्ति चान्यथा।
अन्यथा शास्त्रसद्भावो व्याख्यां कुर्वन्ति चान्यथा।।९२।।

92. परमतत्व तो एक प्रकार से है पर लोग उसे दूसरे प्रकार समझने का प्रयास करते हैं। शास्त्रों का वास्तव में कुछ और ही अर्थ होता है किन्तु लोग उन की व्याख्या कुछ और ही करते हैं।

कथयन्त्युन्मनीभावं स्वयं नानुभवन्ति च।।
अहंकाररताः केचिदुपदेशादिवर्जिताः।।९३।।

93. स्वयं तो (ईश्वर का) कुछ भी अनुभव नहीं होता पर उन्मनी भाव-अवस्था (योगियों की दशा विशेष) की व्याख्या करते हैं। इसी प्रकार गुरु के संप्रदाय से रहित बन कर कई अहंकारी जन संसार में पाये जाते हैं।

पठन्ति वेदशास्त्रणि विवदन्ति परस्परम्।
न जानन्ति परं तत्त्वं दर्व्वी पाकरसं यथा।।९४।।

94. (कई संसारी लोग) ऐसे तो वेदों तथा शास्त्रों को पढ़ाते रहते हैं और आपस में विवाद भी करते हैं, पर यह सभी कुछ करके भी परमधाम के स्थान को नहीं जान पाते। जैसे कड़छी सभी सबज़ियों को बनाते समय उसी में रहती है पर उन व्यञ्जनों (पदार्थों) के रस-ज्ञान को नहीं जानती।

शिरो वहति पुष्पाणि गंधं जिघ्रति नासिका।
पठन्ति वेदशास्त्राणि दुर्लभो भाववेदक:।।९५।।

95. जैसे सिर पर फूलों को चढ़ाते हैं पर उनकी सुगन्ध तो नासिका (नाक) में जानी जाती है–इसी भान्ति लोग वेदों तथा शास्त्रों को पढ़ते रहते हैं पर शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला कोई विरला ही होता है।

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढ: शास्त्रोषु मुह्यति।
गोप: कुक्षिगतं छागं कूपे पश्यति दुर्मति:।।९६।।

96. अपनें हृदय में ठहरे हुए परमेश्वर के स्वरूप को न जान कर मूर्ख मनुष्य उस प्रभु को शास्त्रों में ढूंढने जाते हैं। जैसे कोई मूर्ख ग्वाला अपनी गोद में बैठी हुई बकरी को, गोद में न देख कर कुएँ में देख करके मोहित होता है।

संसारमोहनाशाय शब्दबोधा नहि क्षम:
न निवर्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्तया।।९७।।

97. संसार रूपी मोह को नष्ट करने में शब्द बोध अर्थात् शास्त्र समर्थ नहीं हो सकता। क्या भला दीपक की वार्ता करने से कभी अन्धकार भी नष्ट हो सकता है।

प्रज्ञाहीनस्य पठनं अन्धस्य दर्पणं यथा।
देवि प्रज्ञावत: शास्त्रं तत्त्वज्ञानस्य साधनम्।।९८।।

98. हे देवी! ज्ञान-हीन को शास्त्रों का पढ़ना उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार अन्धे को दर्पण (शीशा) दिखाना निष्फल है। पर विवेकी पुरुष को तो शास्त्रों का पढ़ना ही परमेश्वर के जानने का परम साधन बनता है।

अग्रत: पृष्ठत: केचित् पार्श्वयोरपि केचन।
तत्त्वमीह्कताह्क् इति विवदन्ति परस्परम्।।९९।।

सद्विद्यादानशौर्याद्यैर्गुणैर्विख्यातमानवाः।
ईदृशास्तादृशाश्चेति ते दूरस्थः कथ्यते जनः।।१००।। (युग्लकम्)

99–100. परमेश्वर का स्वरूप ऐसा है और वेसा है, इस प्रकार कई लोग आगे से, कई पीछे से और कई लोग दाईं बाईं ओर से परस्पर विवाद करते रहते हैं।

वे सद्विद्या (परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप को जानने के विना) का दान करने में वीरता आदि गुणों से विख्यात (प्रसिद्ध) हों, पर केवल शास्त्रों के बल पर ही, ईश्वर ऐसा है और वैसा है, ऐसे व्याख्यान झाडने से ही वे पारंगत नहीं हो सकते। बुद्धिमान् जन उनको यथार्थता से बहुत दूर समझते हैं।

प्रत्यक्षग्रहणं नास्ति वार्तया ग्रहणं प्रिये।
एवं ये शास्त्रसम्मूढास्ते दूरस्था न संशयः।।१०१।।

101. हे पार्वती! प्रत्यक्ष तो प्रभु को नहीं समझते हैं। वार्त्ता अर्थात् शास्त्रों द्वारा उसे समझाना चाहते हैं। इस प्रकार जो लोग शास्त्रों में ही मूढ़ बने हुए हैं, वे अवश्य ही प्रभु से बहुत दूर हैं।

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं सर्वतः श्रोतुमिच्छति।
देवि! वर्षसहस्त्रयुः शास्त्रान्तं नैवगच्छति।।१०२।।

102. ज्ञान क्या है और ज्ञेय (पदार्थ) क्या है ? यदि मनुष्य इस का अर्थ सुनना चाहे तो हे देवी ! हज़ार वर्ष आयु होते हुए भी शास्त्रों की अन्तिम सीमा (हद) तक नहीं पहुँच सकता।

वेदाद्यनेकशास्त्राणि ह्यल्पायुः विघ्नकोटयः।
तस्मात्सारं विजानीयात्क्षीरं हंस इवाम्भसः।।१०३।।

103. इधर तो वेद आदि अनेक शास्त्र हैं और उधर मनुष्य की आयु बहुत ही थोड़ी है। उस आयु में भी करोड़ों विघन आते हैं। अतः जैसे हंस, मिले हुए दूध और पानी में से दूध को निकाल लेता है इसी तरह सार बनी हुई (आत्म रूप) वस्तु को ही समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

अभ्यस्य वेदशास्त्राणि तत्त्वं ज्ञात्वार्थ बुद्धिमान्।
पलालमिव धान्यार्थी सर्वशास्त्राणि सन्त्यजेत्।।१०४।।

104. बुद्धिमान को चाहिये कि सम्पूर्ण शास्त्र का अभ्यास कर के उस में से पारमार्थिक स्वरूप समझ कर फिर उसी भांति सभी शास्त्रों को तिलांजलि (छोड़) दे। जिस तरह धान्य की रक्षा के लिए उस के घास की रक्षा की जाती है। जब धान्य पक जाता है तो धान्य को सुरक्षित रख कर घास को छोड़ देते हैं।

यथामृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम् ।
तत्त्वज्ञस्य तथा देवि! न शास्त्रेण प्रयोजनम् । ।१०५ । ।

105. हे देवी ! जैसे अमृत के पीने से तृप्त बने हुए पुरुष को भोजन करने से कोई भी प्रयोजन (मतलब) नहीं रहता, उसी तरह परमेश्वर का स्वरूप अच्छी तरह समझने के पश्चात् शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने का प्रयोजन नहीं रहता है ।

न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि ।
ज्ञानादेव हि कैवल्यं नान्यथा वीरवन्दिते ! । ।१०६ । ।

106. हे वीरों द्वारा वन्दना की गई देवी ! न वेदों के पढ़ने से मुक्ति प्राप्त होती है और न शास्त्रों के पढ़ने से । मुक्ति तो केवल आत्मज्ञान से ही हो सकती है अन्य किसी से नहीं ।

नाश्रमाः कारणं मुक्तेर्दर्शनानि न कारणम् ।
तथैव सर्वशास्त्रणि ज्ञानमेव हि कारणम् । ।१०७ । ।

107. न आश्रमों (ब्रह्मयर्च आदि) का पालन करना, न षड्दर्शनों का पढ़ना और इसी भांति अन्य शास्त्राों का पढ़ना भी मुक्ति का कारण नही हो सकता है । मुक्ति का कारण तो केवल ज्ञान–मात्र ही है ।

मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वा विड़म्बकाः ।
काष्ठभारसहस्त्रेषू ह्येकं सञ्जीवनं परम । ।१०८ । ।

108. केवल एक गुरु–वाणी मोक्ष दिला सकती है शेष अन्य सभी विद्यायें ढोंग हैं। जैसे हज़ारों लकड़ियों के डेर में से केवल एक संजीवनी की लकड़ी ही अमूल्य वस्तु होती है।

अद्वैतन्तु शिवेनोक्तं क्रियायासविवर्जितम्।
गुरुवक्त्रेण लभ्येत नान्यथागमकोटिभिः।।१०९।।

109. प्रभु महादेव जी ने जो अद्वैत स्वरूप, सभी बाहर और भीतर से रहित, अर्थात् निराकार रूप वर्णन किया है उस प्रभु के स्वरूप को गुरु–मुख से ही समझना चाहिये। करोड़ों शास्त्रों के संभार (डेर) को पढ़ कर नहीं।

आगमोत्थं विवेकोत्थं द्विधा ज्ञानं प्रचक्षते।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम्।।११०।।

110. ज्ञान दो प्रकार का है–शास्त्रों द्वारा उत्पन्न और आत्म-विवेक से उत्पन्न बना हुआ। शास्त्रों का ज्ञान 'ब्रह्म संबन्धि' कहलाता है और विवेक से उत्पन्न ज्ञान 'परब्रह्म ज्ञान' कहलाता है।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
परं तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्।।१११।।

111. कई तो परमपद का वर्णन द्वैत रूप से ही करते हैं। कई अद्वैतरूप ही बताते हैं। किंतु इन दोनों से परे जो 'समस्वरूप' है उसे कोई नहीं जानता।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति न ममेति च।
ममेति बाध्यते जन्तुर्नममेति विमुच्यते।।११२।।

112. 'मेरा है और मेरा नहीं है' ये दो ही पद संसार तथा मोक्ष को देते हैं। 'मेरा' कहने से जीव संसार में फंस जाता है और 'मेरा नहीं है' इस से मुक्त होता है।

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनै पुणम्।।११३।।

113. कर्म वह करना चाहिये जिस से संसार में न फंसे। विद्या वही है जिस से मोक्ष की प्राप्ति हो। इन दोनों से अन्य (दूसरा) कर्म केवल कष्ट को देने वाले हैं तथा दूसरी सब विद्यायें शिल्प–मात्र (सिर्फ हुनर) ही हैं।

यावत् कामादि दीप्येत यावत्संसार वासना।
यावदिन्द्रियचापल्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः।।११४।।

114. जब तक मनुष्य में 'कामवासना' है। जब तक संसार में अन्य (व्यवहार की) वासनायें हैं और जब तक इन्द्रियों की चंचलता बनी रहती है तब तक स्वरूप–प्राप्ति की वार्त्ता ही कहां हो सकती है।

यावत् प्रयत्ने वेगोऽस्ति यावत्संकल्पकल्पना।
यावन्न मनसः स्थैर्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः।।११५।।

115. जब तक संसारिक विषयों में प्रयत्न तथा वेग (अर्थात् उद्योग) बना रहता है, जब तक संकल्प–विकल्प विद्यमान् हैं और जब तक मन एकाग्र वृत्ति में नहीं ठहरता तब तक स्वरूप लाभ की वार्त्ता कहां की जा सकती है।

यावद्देहाभिमानश्च ममता यावदेव हि।
यावन्नगुरुकारुण्यं तावत्तत्त्वकथा कुतः।।११६।।

116. जब तक देहाभिमान बना रहता है, जब तक ममता दिखाई देती है और जब तक गुरु की कृपा नहीं होती तब तक आत्म–प्राप्ति की कथा कैसे की जा सकती है।

तावत्तपो व्रतं तीर्थं जपहोमार्चनादिकम्।
वेदशास्त्रागमकथा यावत्तत्त्वं न विन्दते।।११७।।

117. तभी तक मनुष्यों को तपस्या, व्रत रखना, तीर्थयात्रा, जप हवन, पूजा, वेदों और शास्त्रों का पठन पाठन (पढ़ना पढाना) करना चाहिये जब तक कि मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार न प्राप्त हो।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा।
तत्त्वनिष्ठो भवेत् देवि! यदीच्छेन्मोक्षमात्मनः।।११८।।

118. इसलिए हे देवी ! यदि मनुष्य अपना मोक्ष चाहता

है तो उसे महान् प्रयत्न (बड़ी कोशिश) पूर्वक, हर किसी हालत में, रात और दिन लगातार अपने ही स्वात्म–चिन्तन में निष्ठ बनना चाहिये।

धर्मज्ञानसुपुष्पस्य स्वर्गलोकफलस्य च।
तापत्रयार्तिसन्तप्तश्छायां मोक्षतरोः श्रयेत्।।११९।।

119. इसलिए तीनों (शरीर, मन और दैव संबन्धि) दु:खों से दु'खित बना हुआ पुरुष, मोक्ष रूपी वृक्ष की छाया का आश्रय (सहारा) लेवे। जिस मोक्ष–वृक्ष से धर्म तथा ज्ञान रूपी फूल उगते हैं और जिस वृक्ष से स्वर्ग–लोक रूपी फल प्रकट होते हैं।

बहुनात्र किमुक्तेन रहस्यं शृणु पार्वति।
कुलधर्माहते मुक्तिर्नास्ति सत्यं न संशयः।।१२०।।

120. अधिक कहने से क्या प्रयोजन (मतलब) है। हे पार्वती! रहस्य कथन तो यही है कि कुल–धर्म को छोड़ कर अन्य किसी भी धर्म का आश्रय लेने से कभी भी मुक्ति नहीं हो सकती है। यह मैं सत्य कहता हूँ और इस में (ज़रा भी) संशय नहीं है।

तस्मात् पार्वति*तत्त्वं विज्ञाय श्रीगुरोर्मुखात्।
सुखेन मुच्यते जन्तुर्घोरसंसार बन्धनात्।।१२१।।

121. हे पार्वती! इस लिए उस परमेश्वर के स्वरूप को श्री गुरुदेव के मुख से समझ कर प्राणी इस भंयकर संसार रूपी सागर से सुख–पूर्वक मुक्त हो जाता है।

---

* पाठान्तर :- कुलामृतं तत्त्वं = कुलरुपी अमृत

इति ते कथितं किञ्चिज्जीवजातिस्थितिं प्रति।
समासेन कुलेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि।।१२२।।

122. हे जगत्–ईश्वरी! इस प्रकार मैं ने जीव के स्वाभाविक स्थिति के विषय में कुछ संक्षेप से कहा है। अब इस के अतिरिक्त और क्या सुनना चाहती हैं।

इति श्रीकुलार्णवे महारहस्ये
सर्वागमोत्तमोत्तमे सपादलक्षग्रन्थे पञ्चमखण्डे
ऊर्ध्वाम्नायतन्त्रे जीवस्थिति
कथनं नाम प्रथमं उल्लासः।।

(कुलार्णव तन्त्र में कहे गये पहिले समुल्लास की
हिन्दी टीका समाप्त हुई।)
ओं शान्तिः शांति शांति। ओं।

श्री

कुलार्णव तन्त्र

नवमोल्लास:

अथ

श्री कुलार्णव तन्त्र

(नवमोल्लासः)

श्रीदेव्युवाच ।

कुलेश श्रोतुमिच्छामि योगं योग विशारदम् ।
कुलभक्तार्चन फलं वद मे करुणानिधे । ।१ । ।

देवी कहती हैं

1. हे जगत् के प्रभो महादेव ! मैं योग तथा योगिन्द्र साधकों के लक्षण आप से सुनना चाहती हूँ। हे दया के सागर ! इस के साथ ही कुल–मार्ग में भक्ति–पूर्वक पूजा करने का क्या फल मिलता है ? इसे भी कहने की कृपा करें।

ईश्वर उवाच

श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
तस्य श्रवणमात्रेण योग: साक्षात् प्रकाशते।।२।।

भगवान् शंकर कहते हैं :-

2. हे देवि ! तुम जो कुछ भी मुझ से सुनना और जानना चाहती हो, उसे मैं बता रहा हूँ। इन कुल संबन्धि वचनों के सुनने से ही योग–विद्या का प्रकाश यानी ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदत:।
साकारं स्थूलमित्याहुर्निराकारं तु सुक्ष्मकम्।।३।।

3. भगवान् कह रहे हैं–ध्यान दो प्रकार के होते हैं–पहिला स्थूल ध्यान कहलाता है और दूसरा सूक्ष्म ध्यान माना जाता है। साकार–मूर्ति आदि का ध्यान करना स्थूल ध्यान है और निराकार–बिना मूर्ति के ध्यान को सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।

स्थैर्यार्थं मनस: केचित्स्थूलध्यानं प्रचक्षते।
स्थूलेचेत निश्चल–चेतो भवेत्सूक्ष्मेपि सुस्थिरम्।।४।।

4. कई साधक मन को एकाग्र करने के लिए स्थूल ध्यान का आश्रय लेते हैं। अत: वह मूर्ति–पूजा आदि साधना करते हैं, उसे स्थूल ध्यान कहते हैं। इस भांति

जब स्थूल ध्यान में उनका मन टिक जाता है तो सूक्ष्म–निराकार ध्यान में भी स्वतः मन एकाग्र हो जाता है।

करपादोदराङ्गादिरहितं परमेश्वरम।
सर्वतेजोमयं ध्यायेत् सचि्चदानन्द लक्षणम्।।५।।

5. हाथ, पैर, पेट आदि अंग तो सामान्य जीवों के होते हैं। भगवान् तो इन अंगों से रहित व्यापक रूप से सत् चित् और आनन्द रूप लक्ष्णों से युक्त हैं। उन्हीं निराकार परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये।

नोदेति, नास्तमभ्येति न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत्साधनं विना।।६।।

6. बाहि सूर्य तो उदय तथा अस्त होते हैं किन्तु यह चित–सूर्य न उदय करते हैं और न अस्त होते हैं। यह तो सदा विराजमान ही हैं। इसी लिए यह सदा एकवत् रहते हैं। चन्द्रमा की भांति यह न कभी बढ़ते हैं और न कभी क्षीण हाते हैं। यह चित्–प्रकाश विभु स्वयं प्रकाशमान होने के कारण बिना किसी साधन के ही अपनी दीप्ति के कारण ही स्वयं प्रकाशमान रहते हैं। इसी भासमानता के कारण सभी जगत के पदार्थों को और प्रणियों को प्रकट करते हैं।

अनस्तमितभारूपं सत्तामात्रंमगोचरम् ।

वचसा नात्मसंवेद्ये तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञकम् ।।७।।

7. उस परमात्मा का स्वरूप जाग्रत, स्वप्न, सुषिप्ति की अवस्थाओं की पकड़ से न्यारा है। केवल अपनी स्वातन्त्य शक्ति से वह सदा भासमान है। शास्त्र–कथित वाणियों से उसका संबन्ध आत्मा से हो जाता है। शास्त्रकार भगवान् की सत्ता का बखान अपनी वाणि के द्वारा कर पाते है। इस प्रकार का कथित ज्ञान ब्रह्म–ज्ञान कहा जाता है।

प्रणष्ट वायुसंचारः पाषाण इव निश्चलः ।

परजीवैकधर्मज्ञो योगी योगविदुच्येत ।।८।।

(भगवान् शंकर ऊपर–वर्णित श्लोक में देवी पार्वती जी से समाधि के लक्षण कह रहे हैं) :–

8. जिस योगी के प्राणापान का संचार सुषुम्ना–धाम में जाकर लय हो जाता है वह स्वभावतः पत्थर की भांति अटल हो जाता है। इस अवस्था में जाकर वह परमात्मा और जीवात्मा की एकता रूप धर्म–रहस्य को जान जाता है। ऐसा योगी योगिराज माना जाता है।

यदर्थमात्रनिर्भातं स्तिमितोदधिवत्स्थितम्।
रूपशून्यं च यद्धयानं समाधिरभिधीयते।।९।।

9. ऐसे योगिराज का ध्यान आत्मिक सत्ता–मात्र का अनुभव करता है। संकल्प–विकल्पों से रहित शान्त समुद्र की भांति, तरंगों से रहित, परिपूर्ण संवित धाम में टिक जाता है। बाह्य जगत् का मायिक रूप दिखता ही नहीं है। इसी अनुभव को समाधि कहते हैं।

न किंचिच्चिन्तनात्देवि! स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।
स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत्।।१०।।

10. इस श्लोक में भगवान् शाम्भवोपाय की ओर संकेत करते हुए देवी से कहते हैं–हे देवी जब साधक सभी प्रकार की चिन्तनाओं पर विजय प्राप्त करता है, एक बारगी निर्विकल्प बन जाता है तो स्वयं किसी उपाय के बिना ही उसे परम–तत्त्व प्रकट हो जाता है। परम–तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर मन परम–धाम में लय हो कर तद्रूप–संवित् रूप हो जाता है।

सदाजाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठति।
निःश्वासोश्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः।।११।।

11. जो साधक सदा जाग्रत अवस्था में सजग रह कर, उन अवस्थाओं के लपेट मे न आकर, अपने अभ्यास करने में लगा रहे, तो ऐसा करते हुए उसके प्राणापान

की गति स्वतः सुषम्ना धाम में लय हो जाती है। वह प्राण जेता बन जाता है इस अवस्था की प्राप्ति पर वह मुक्त हो जाता है।

निस्पन्दकरणग्रामः पाषाण इव निश्चलः।
य आस्ते मृतवत्साक्षाज्जीवन्मुक्तः स उच्चते।।१२।।

12. ऐसे जीवन्मुक्त साधक की सभी इन्द्रियों का वर्ग पत्थर की भांति अटल हो जाता है। संकल्प-विकल्पों से रहित होकर स्वात्मा में लीन हो जाता है। बाह्य–व्यवहार न करने पर संसारी जन उन्हें मृतक ही समझते हैं पर सत्यतः ये जीवन्मुक्त होते हैं।

न श्रृणोति न वा पश्येत् न तिष्ठति न गच्छति।
न जानाति सुखं दुःखं न च संलिप्यते मनः।
न चापि किंचित्‌जानाति न च बुध्यति काष्टवत्।
एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते।।१३-१४।। (युग्लकं)

13.–14. जीवन्मुक्त बना हुआ साधक सदा शान्त रहता है, मानो किसी की बात सुनता ही नहीं। न कुछ देखता है। न ही एक स्थान पर ठहरता है। न कहीं जाता है। सुख और दुःख के अनुभव से रहित होकर उनकी लपट में नहीं आता। न कुछ जानता है और नहीं कुछ समझता है। लकड़ी की भांति अबुध बनकर रहता है। उसकी आत्मा शिव-भाव में विलीन हो जाती है।

ऐसे सिद्ध पुरुष ही समाधिस्थ माने जाते हैं।

यथा जले जलं क्षिप्रं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम्।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः।।१५।।

15. जैसे जल को जल में डालने से, दूध को दूध में मिलाने से, या घी को घी में मिला देने से किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता; इसी भांति समाधि दशा में जाकर जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य हो जाता है। दोनों का मेल स्थिर हो जाता है। जीव, जीव न रह कर शिव बन जाता है।

यथा ध्यानस्य सामर्थ्यात् कीटोऽपि भ्रमरायते।
तथा समाधि सामर्थ्याद् ब्रह्मभूतो भवेन्नरः।।१६।।

16. ध्यान यानी एकटक देखने से कीड़ा भौंरा बन जाता है। यह तो ध्यान का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी भांति समाधि में जाकर मनुष्य ब्रह्म बन जाता है। नर से नारायण बनता है।

क्षीरोद्घृतं घृतं यद्वत् तत्र क्षिप्रं न पूर्ववत्।
पृथक्कृते गुणेभ्यः स्यादात्मा तावदिहोच्यते।।१७।।

17. दूध को मथ कर निकाला हुआ घी फिर दूध में डाल कर दूध न बन कर घी ही बना रहता है। इसी भांति अभ्यास के बल से इन्द्रियों की चंचलता को मिटाने

पर मुक्तात्मा की आत्मा फिर संसार में सभी व्यवहार करने पर भी अपने स्वात्म-स्वरूप से डिगती नहीं है।

यथागाड़ान्धकारस्थो न किञ्चिदिह पश्यति।
अमनस्कस्तथा योगी प्रपञ्चं नैव पश्यति।।१८।।

18. जैसे पूर्णरूप से अन्धकारमय जगह(कोठी) में बैठा हुआ व्यक्ति किसी भी पदार्थ को (बिना उजाले के) देख नहीं पाता उसी भांति अलक्ष्य परमात्मा का साक्षात्कार करने पर योगी संसार के माया जाल को नहीं देखता। प्रकाश मय बन कर वह अन्धकार से न्यारा रहता है।

यथा निमीलने काले प्रपञ्चो नैव पश्यति*।
तथैवोन्मीलनेस्यात् चेतेतद्ध्यानस्य लक्षणम्।।१९।।

19. जैसे व्यक्ति आखें बन्द करने पर बाहिर की कोई भी वस्तु देख नहीं पाता, उसी भांति आंख के खुले रहने पर भी साधक को कोई जगत् का प्रपञ्च नहीं दिखता। शिव की व्याप्ति ही उसे दीखती है। यही ध्यान का सही लक्षण है।

जनः स्वदेहकंडूतिं विजानाति यथा तथा।
परं ब्रह्मस्वरूपी च वेत्ति विश्वविचेष्टितम्।।२०।।

20. शरीरधारी प्राणी जैसे अपने शरीर की खुजली को, जहां भी हो, जान जाता है। वैसे ही परमयोगी, जिनकी आत्मा परब्रह्मका स्वरूप ही बन जाती है

---

* पाठान्तर :- दृश्यति

विश्व में होने वाली किसी भी हल-चल का अनुभव स्वत: कर लेते हैं। क्योंकि उनकी आत्मा विश्व में व्याप्त होती है।

विदिते परमेतत्त्वे वर्णातीतेह्यविक्रिये।
किंकरत्वंहि गच्छन्ति मन्त्रा मन्त्राधिपै: सह।।२१।।

21. (जिस योगीराज ने) वाणी से न वर्णन किये जाने वाले, तथा किसी भी पूजा, जप आदि से न प्राप्त किये गये, परम-तत्त्व को जाना हो यानी अनुभव किया हो; उस के सुम्मुख सभी मन्त्र और मन्त्रों के देवता, दास बन जाते हैं।

आत्मैकभावनिष्टस्य या या चेष्टा तदर्चनम्।
यो यो जल्प: स मन्त्र: स्यात्तद्ध्यानं यन्निरीक्षणम्।।२२।।

22. केवल आत्मा में ही रमा हुआ साधक, बाह्य जगत् में जो भी कर्म करता है, वही उसकी भगवान् की पूजा मानी जाती है। जो भी बात किसी से करता है वह मन्त्रवत् सिद्धिप्रद होती है और जो भी वह देखता है वह ध्यान कहलाता है। शिव-दृष्टि का अनुभव होने से वह सदा उसी भाव में रमा रहता है।

देहाभिमाने गलिते विदिते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधय:।।२३।।

23. साधक का, देह पर अभिमान होना जब अभ्यास के द्वारा समूल समाप्त हो जाता है तो उसका मन, परमात्म-स्वरूप मे टिक जाता है। इस स्थिति में रह कर फिर मन जहां भी जाये यानी विषयों को भोगता भी रहे, उसे उन विषयों से भी समाधि के अवर्णनीय आनन्द का अनुभव होता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशय:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे *परात्परे।।२४।।

24. सर्वोत्कृष्ट परमात्मा का दर्शन-अनुभव हो जाने पर, इस साधक के हृदय मे पड़ी गांठ खुल जाती है, सभी शंकायें समाप्त हो जाती हैं, और उसके सभी कर्म ज्ञान रूपी अग्नि में जल कर समाप्त हो जाते हैं। वह विदेह-मुक्त हो जाता है और आवागमन से छूट जाता है।

योगीन्द्रेण यथा प्राप्तं निर्मलं परमं पदम्।
देवासुर पदं तद्वत् प्राप्तं चापि न गृह्यते।।१५।।

25. ऐसे योगीन्द्र शक्तिपात के होने से जब इस निर्मल पद को प्राप्त कर लेते हैं, वे उतने उच्च स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, जहां पहुचं कर उन्हे इन्द्र का पद भी छोटा

*** पाठान्तर - परात्मनि !**

यानी नीरस लगने लगता है। यदि उन्हें वह कभी प्राप्त भी हो तो वह स्वीकार नहीं करते।

यः पश्येत् सर्वगं शान्तमानन्दात्मकमव्ययम्।
न तस्य किञ्चिदना*लभ्य ज्ञातव्यं नावशिष्यते।।१६।।

26. जो सर्वोत्तम योगी, सर्वव्यापक शान्त आनन्द रूप और अविनाशी परमेश्वर का दर्शन कर लेता है अर्थात् समाधि अवस्था में अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव करता है तो उस के लिए फिर कुछ भी जानने के लिए शेष नहीं रहता। वह भगवान् को पाकर सर्वज्ञ बन जाता है।

संप्राप्ते ज्ञानविज्ञाने सिद्धयश्च हृदि संस्थिते।**
लब्धे शान्तिपदे देवि न योगा नैव धारणा।।२७।।

27. जिस श्रेष्ठ साधक ने हृदय में ठहरे हुए सिद्धि-प्रद प्रकाश तथा विमर्श से पूर्ण ज्ञेय-परमात्मा को प्राप्त किया हो उसके लिये फिर योग या धारणा आदि क्रियाओं के करने की आवश्यकता ही नही रहती। उसने तो परमशान्ति को प्राप्त किया होता है।

परब्रह्मणि विज्ञाते समस्तैर्नियमैरलम्।
तालवृत्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते।।२८।।

28. परब्रह्म परमात्मा का अनुभव-दर्शन हो जाने पर सभी यम नियमं स्वतः छूट जाते हैं। जैसे चंदन की वायु

पाठान्तर :- * आप्त०यं, ** ज्ञेये च

से सुगन्धित मलयाचल की वायु का सेवन करने पर पंखा झेलने से कोई प्रयोजन नहीं रहता।

आसिकाबन्धनं नास्ति नासिका बन्धनं हि न।
न यमोनियमो नास्ति स्वयमेवात्मपश्यताम्।।२९।।

29. स्वरूप-साक्ष्यात्कार हो जाने पर फिर आसन लगा कर बैठना या प्राणायाम करते हुए नासिका पर धारणा रखने का कोई प्रयोजन नही रहता। साध्य-परमात्मा की प्राप्ति पर सभी साधनाए समाप्त हो जाती हैं।

न पद्मासनतो योगी न नासाग्रनिरीक्षणम्।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदा:।।३०।।
ध्यायत: क्षणमात्रं हि श्रद्धया परमं पदम्
यद्भवेत् समुहत् पुण्यं तस्यान्तं नैव गण्यते।।३९।। (युग्लकं)

30–31. पद्मासनादि धारण करने से या नाक के अग्रिम सिरे पर दृष्टि बांधने से योग प्राप्ति नही होती। योग में पारंगत ब्रह्म-निष्ट साधक, जीव और परमात्मा के मेल को ही योग कहते हैं। यह निश्चय है कि एक क्षण भी एकाग्र होकर यदि ध्यान में श्रद्धा और आस्था-पूर्वक परमात्मा का ध्यान किया जाये तो महान् पुण्य प्राप्त होता है। ऐसे पवित्र योग के (महत्त्व का) कोई अन्त नहीं होता।

क्षणं ब्रह्माहमस्मीति यः कुर्यादात्मचिन्तनम् ।
तत्सर्वं पातकं हन्यात्तमः सूर्योदये यथा । ।३२ । ।

32. भगवान् शंकर पार्वती से कह रहे हैं–जो साधक एकाग्र बन कर एक क्षण भी "मैं परब्रह्म हूँ" ऐसा अनुभव करके आत्म चिन्तन करता है। उस के सभी पाप वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्योदय हो जाने से अन्धकार समाप्त हो जाता है।

व्रतक्रतुस्तपतीर्थं दानदेवार्चनादिषु ।
यत्फलंकोटिगुणितं तदवाप्नोति तत्त्ववित् । ।३३ । ।

33. जो पुण्य-फल व्रतों, यज्ञों, तपस्याओं, तीर्थों में जाकर स्नान करने से, दान देने से, देवताओं की पूजा करने से, साधकों को मिलता है उस से करोडों गुना फल तत्त्ववेत्ता योगी आत्म-चिन्तन से प्राप्त करता है।

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यान धारणा ।
जपस्तुति स्यादधमा होमपूजा धमाधमा । ।३४ । ।

34. इस त्रिकमार्ग में यथावत् स्यिति में रहना- जिसे सहज-स्वाभाविक शाम्भव स्थिति कहते हैं सर्वोत्तम दशा है। ध्यान-धारणा मध्यम कोटि में माना जाता है। इस से भी नीचे जप और स्तुति मानी गई है।

हवन और साकार पूजा तो अधम से भी अधम मानी गई है। भाव यह है जिन क्रियाओं से बाह्य-संसार का ही आडम्बर फैलता रहे। निर्विकल्प दशा में ठहराव न हो वह कार्य मुमुक्षु के लिए वर्जित हैं।

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं, स्तोत्रा कोटिसमो जपः।
जपकोटि समं ध्यानं ध्यानकोटि समो लयः।।३५।।

35. साकार पूजा करने से करोड़ों गुना महत्त्वपूर्ण स्तोत्र पाठ करना माना जाता है। स्तोत्रा-पाठ से करोड़ गुना अधिक जप करना है। जप से भी करोड़ गुना फलदायक ध्यान कहा गया है और ध्यान से भी करोड़ गुणा महत्व पूर्ण आत्मा में मन का लय हो जाना (मन का उन्मनीभाव में जाना) माना गया है।

न हि नादात्परो मन्त्रो न देवो स्वात्मनः परः।
नानुसन्धे परामूजा न हि तृप्तेः परं फलम्।।३६।।

36. अभ्यास करने वाले साधक को दश-नादों की अनुभूति अपनी साधना में हुआ करती है—सो भगवान् महादेव कह रहे हैं कि 'नाद' का अनुभव होने से बढ़ कर मन्त्र का जप नहीं है और नही स्वात्मा से बढ़ कर कोई आराध्य देवता है। स्वात्मा का (अहर्निश) ध्यान करने से बढ़ कर कोई दूसरी पूजा नहीं है और नहीं

अपनी आत्मा में रमे रहने से बढ़ कर कोई उत्तम फल है। "स्वस्मिन् स्थितः इति स्वस्थः" यही चरम-सीमा की प्राप्ति है।

अक्रियैव परा पूजा मौनमेव परो जपः।
अचिन्तैव परं ध्यानं अनिच्छैव परं फलम्।।३७।।

37. सभी क्रियाओं को परमात्मा में अर्पित कर अक्रिय भाव में स्थिति हो जानी उत्तम पूजा है। मौन रह कर स्वात्म अनुसन्धान में लीन हो जाना श्रेष्ठ जप है। बाह्यवृत्त्यिों से विमुख होकर निर्विकल्प होकर निःसंकल्प हो जाना ही सत्य शब्दों में ध्यान है और किसी भी प्रकार के फल की इच्छा न रखना ही तथ्य शब्दों में पारमार्थिक फल है।

मन्त्रोदकैर्विना सन्ध्यां जपहोमैर्विना तपः।
उपचारैर्विना पूजां योगी नित्यं समाचरेत्।।३८।।

38. वैदिक रीति के अनुसार 'सन्ध्या समय' मन्त्रों के साथ जल का तर्पण करके सन्ध्या नामक आचार का पालन करना चाहिये, ऐसा विधान है। हमारे कौलाचार में योगी के लिए विना मन्त्रोदक के सन्ध्या का पालन करना विहित है। पूजा और हवन के किये बिना ही अनथक अभ्यास का करना ही तपस्या है।

मन्त्रों का प्रयोग करने के बिना ही पूजा का विधान है।

निसङ्गश्चविसङ्गश्च* निस्तीर्णोपाधि वासनः।
निजस्वरूपनिर्मग्नः स योगी परतत्त्ववित्।।३६।।

39. जो योगी निःसंग होकर आसक्ति-किसी के साथ भी लगाव-न रखता हो, सभी ऐहिक वासनाओं की उपाधि से रहित हो, वही योगी परमात्मा के स्वरूप को जानता है। (और अपने स्वात्म 'स्व' भाव में लीन रहता हो)

देहो देवालयो देवि! जीवो देवः सदाशिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहमभावेन पूजयेत्।।४०।।

40. भगवान् शंकर कहते हैं–हे देवी यह मनुष्य का शरीर ही देव (परमात्मा) का आलय (घर) है। इस में जो जीवात्मा ठहरी है इसे शास्त्रकार सदाशिव कहते हैं। इस शरीर मे अज्ञान का निर्माल्य चढ़ा हुआ है; इस को हटाना चाहिये। फिर 'सोऽहं' भाव से यानी अजपाजप गायत्री से अपने स्वात्मा की पूजा करे यानी अनुसन्धान परायण रहे ; यही तथ्य पूजा है।

---

* पाठान्तर :- निसंकल्पविकल्पश्च = संकल्प विकल्प रहित

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।
पाशबद्धः स्मृतो जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ।।४१।।

41. जीव, वास्तव में शिव ही है। अतः शिव ही जीव है। अपनी इच्छा से वह जीवभाव में आकर संकोच को ग्रहण करने पर भी शिव ही है। अन्तर इतना ही है कि पाश-आणव, मायीय और कार्म मलों का आवरण होने पर वह जीव कहलाता है और मलावरण से छूटने पर सदाशिव कहलाता है।

यथा पङ्ग्वन्धबधिरः मूकोन्मत्त जडादयः ।
निवसन्ति कुलेशानि तथा योगी च तत्त्ववित् ।।४२।।

42. महादेव कह रहे हैं। हे देवी कुलस्वामिनि ! जो पर तत्त्व के मर्मज्ञ योगी होते हैं वे अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाने के लिए कभी लंगडे की भांति चलने का स्वांग रचते हैं। कभी सब कुछ देख कर भी अन्धवत् रहते हैं। कभी सब कुछ सुनते हुए बहरे की तरह अनसुनी करते हैं या पागल की भांति सजग होते हुए अनाप-शनाप बोलने लगते हैं। कई जड़-पत्थर आदि की भांति बेसुध बन कर काल-यापन करते हैं। ये सभी क्रियायें वे अपने वास्तविक रूप को गुप्त रखने के लिए ही करते हैं। ऐसा करने से वे लोकेशना से मुक्त हो जाते हैं।

तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात्तुषाभावे हि तण्डुलः।
कर्मबद्धः स्मृतो जीवः कर्ममुक्तः सदाशिवः।।४३।।

43. जैसे धान भूसी के छिलके से युक्त रहने पर धान (शाली) कहलाता है। छिलका उतरने पर वही चावल बनता है। उसी भांति कर्मों की पकड में आकर शिव, जीव बनता है और कर्मों से छुट कर शिव-सदाशिव कहलाता है।

अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमा स्वल्प बुद्धीनां सर्वत्रा विदितात्मनाम्।।४४।।

44. भगवान् शंकर अधिकारी भेद को समक्ष रख कर देवी से कह रहे हैं–ब्राह्मणों को भगवान् की अभिव्यक्ति का आभास यज्ञ के करने मे होता है। मनन शील तत्त्ववेत्ता योगियों को अपने हृदय मे ही प्रभु का दर्शन होता है। अल्पबुद्धि वालों को देव-दर्शन मूर्ति-पूजा करने से होता है और जिन्होंने आत्मा को जाना हो उन्हें सभी जड़ चेतन विश्व में प्रभु के दर्शन साक्ष्यात् होते हैं।

यो निन्दास्तुतिशीलेषु* सुख दुःखारिबन्धुषु।
सम आस्ते स योगीन्द्रो हर्षामर्ष विवर्जिताः।।४५।।

45. जो योगी निन्दा, प्रशंसा, सर्दी, गर्मी, सुख, दुख और शत्रु व बान्धवों में अपना संतुलन बनाये रखे। सभों

के साथ यथा-योग्य व्यवहार करे। वह योगी हर्ष और ईर्षा आदि जगत् संबन्धि द्वन्दों में एकवत् रहता है वह सत्यतः योगीन्द्र है।

*** पाठभेदः– शीतोष्ण**

निस्पृहो नित्यसंतुष्टः समदर्शी जितेन्द्रियः।
आस्ते देहेप्रवासीव* स योगी परम तत्त्ववित्।।४६।।

46. किसी भी कामना से रहित, सदा संतुष्ट रहने वाला, सब में प्रभु को देखने वाला या सभी जीवधारियों से प्रेम करने वाला समदर्शी, इन्द्रियों का विजेता, योगी, अपने शरीर में रहता हुआ भी, वटोही ही (सफर करने वाले यात्री के समान) रहता है। उसने परम-तत्त्व परमात्मा का अनुभव किया होता है। अतः परंतत्त्ववित् कहलाता है।

एवं मुद्रा समुत्पन्नपरमानन्द निर्भरः।
य आस्ते स तु योगीन्द्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि।।४७।।

47. जो इस भांति दिव्य गुणों से संपन्न, स्वरूप-लाभात्मक तथ्य मुद्रा से सुशोभित होता है वही योगीन्द्र कहलाता है। कारण यह कि वह स्वात्मा में स्वात्म-तत्त्व का दर्शन करके आप्त-काम हो जाता है।

इति श्री कुलार्णव-तन्त्रे
नवमोल्लासः समाप्तः

कुलार्णव तन्त्र में वर्णित
नववां उल्लास समाप्त हुआ।

इति शिवम्।

---

* पाठभेदः= गेहे प्रवासीव

